दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक दसवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

माघ
२४७९

साधक-संतों की धुन!

आत्मा की रमणता की धुन में अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग करते हुए... सहजानन्द का अनुभव करते हुए... जैसी सिद्ध भगवान की दशा है, वैसी दशा का अनुभव करते हुए मुनि चले आते हैं... साधम-संत आत्मा के आनंद-रस में लीन रहते हैं। आत्मस्थिरता में कैसे वृद्धि हो, उसी की उन्हें धुन है। आहार क्यों नहीं मिलता, उसकी उन्हें किंचित् धुन नहीं है!

साधकों के हृदय की कल्पना बाह्य से नहीं की जा सकती!

[समयसार-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१४

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सोनगढ़ : मानस्तंभ-समाचार

सोनगढ़ में जो मानस्तंभ तैयार हो रहा है, उसका प्रतिष्ठा-महोत्सव फाल्गुन शुक्ला पंचमी को करने का विचार था; परन्तु मानस्तंभ का निर्माण-कार्य पूर्ण होने में अभी कुछ विलम्ब होगा; इसलिये यह विचार बन्द रखा है; मुहूर्त निश्चित होने पर सूचित किया जायेगा।

आत्मधर्म

माघ २४७९ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक दसवाँ

आत्मा कौन है
और
कैसे प्राप्त होता है ?

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है;
उस पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

लेखांक ७] [अंक ९३ से आगे

[१३] स्थापनानय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य स्थापनानय से, मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलंबन करनेवाला है। जिसप्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना होती है, उसीप्रकार पुद्गलों में भी आत्मद्रव्य की स्थापना की जा सकती है। जिसप्रकार सीमंधर भगवान की प्रतिमा पुद्गल है, उस में कहीं सीमंधर भगवान का आत्मा नहीं है; सीमंधर भगवान का आत्मा तो इस समय महाविदेहक्षेत्र में अरिहंतपद पर समवशरण में विराजमान है; वह आत्मा कहीं इस प्रतिमा में नहीं आता, किन्तु प्रतिमा में 'यह सीमंधर भगवान है'—ऐसी स्थापना द्वारा सीमंधर भगवान का आत्मा ख्याल में आता है। सीमंधर भगवान के आत्मा में उसप्रकार का धर्म है, उसे स्थापनानय जानता है। यदि भगवान के आत्मा में वैसा धर्म न हो तो मूर्ति में स्थापना द्वारा उनका आत्मा ख्याल में नहीं आ सकता। इसलिये आत्मा सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है—ऐसा स्थापनानय से समझना।

मूर्ति, चित्र आदि पुद्गलों में आत्मा की स्थापना करने से आत्मा ज्ञात हो, वैसा आत्मा का

धर्म है। आत्मा, पुद्गल का अवलम्बन करनेवाला है—ऐसा यहाँ कहा है; उसका अर्थ यह है कि पुद्गल के साथ आत्मा को इस प्रकार का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि पुद्गल में उसकी स्थापना की जा सकती है। मूर्तिक होने पर भी उसमें स्थापना द्वारा अमूर्तिक आत्मा का लक्ष होता है—ऐसा आत्मा का एक धर्म है। यह धर्म सिद्धों में भी है। सिद्ध के आत्मा की भी मूर्ति, चित्र आदि में स्थापना हो सकती है। यहाँ जिनमन्दिर में सिद्ध भगवान की प्रतिमा है; उस प्रतिमा की आकृति में सिद्ध भगवान की स्थापना है कि—'यह सिद्ध भगवान हैं।'—इसप्रकार स्थापनानय से आत्मा, पुद्गल का अवलम्बन करता है—ऐसा कहा जाता है। देखो! इस पौद्गलिक चित्र में स्थापना द्वारा 'यह जीव है'—ऐसा बतलाया जा सकता है;—इसप्रकार पुद्गल में जीव की स्थापना हो सकती है; और जीव में उस प्रकार का धर्म है।

यहाँ तो ऐसा कहा है कि आत्मद्रव्य सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है; अर्थात् मात्र मूर्ति में ही उसकी स्थापना हो सकती है और अन्य किसी वस्तु में नहीं हो सकती—ऐसा नहीं है; फूल, लौंग, लकड़ी की गोट आदि चाहे जिस पुद्गल में स्थापना करके आत्मा समझाया जा सकता है। शतरंज की गोटों में 'यह राजा, यह हाथी, यह प्यादा' इत्यादि प्रकार से स्थापना की जाती है; तदनुसार किसी भी पुद्गल में 'यह आत्मा है'—ऐसी स्थापना हो सकती है। आत्मा में उसप्रकार का धर्म है।

जड़-पुद्गल में आत्मा की स्थापना की जा सकती है, इसका अर्थ यह नहीं समझना कि उस जड़ के द्वारा आत्मा समझ में आता है। समझनेवाला तो अपने ज्ञान की शक्ति से ही समझता है, परन्तु उसे निमित्तरूप से कभी शब्द होते हैं और कभी स्थापना भी होती है। समझनेवाले को स्थापनानय से आत्मा इसप्रकार के धर्मवाला ज्ञात होता है।

देखो, यह आत्मा की महिमा! प्रत्येक आत्मा अनंत धर्मों का स्वामी है। अपने धर्म का जिसे भान नहीं है, वह बाह्य में धर्म ढूँढ़ने जाता है। अपने आत्मा में ही ऐसे-ऐसे अनंत धर्म भरे है—यह बात अनेक जीवों ने तो सुनी भी नहीं होगी।

पुद्गल में आत्मा की स्थापना हुई, वहाँ अज्ञानी को उस पुद्गल की महिमा भासित होती है; मानों पुद्गल में से उसका धर्म आता हो! किन्तु भाई! पुद्गल में जिसकी स्थापना हुई, उसके धर्म को तो देख! यदि पुद्गल में स्थापना होने जैसा धर्म आत्मा में न हो तो उसकी स्थापना ही कहाँ से होगी? इसलिये आत्मा के उस धर्म को देख! और ऐसे अनंत धर्म जिसमें एक साथ विद्यमान

हैं—ऐसे अपने आत्मा की महिमा प्रगट कर! अनंत धर्मों का पिण्ड आत्मा जितना है, उसे उतना ही जानकर ज्ञान में उसका माहात्म्य आने से ज्ञान सम्यक् होता है। ऐसे सम्यक्ज्ञान के बिना कभी सच्ची शांति नहीं होती।

अनादिकाल से आत्मा को कभी यथावत् नहीं जाना है। जबतक आत्मा का सच्चा ज्ञान न हो, तबतक उसकी महिमा और उसमें एकाग्रता कैसे होगी? और आत्मा में एकाग्रता के बिना भव का अन्त नहीं आ सकता। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, वह पर की महिमा करके पर में एकाग्र होता है, इसलिये भवभ्रमण होता है। चैतन्यवस्तु को यथावत् समझकर उसकी महिमा में एकाग्र हो तो कल्याण प्रगट हो। शिष्य को अपने कल्याण की जिज्ञासा हुई है; इसलिये प्रश्न किया है कि—प्रभो! यह आत्मा कैसा है? उस जिज्ञासु शिष्य को समझाने के लिये आचार्यदेव ने आत्मा का विशेष वर्णन किया है।

भगवान आत्मा को प्रसन्न करने के लिये उसे पहिचानकर उसकी महिमा करना चाहिए। यदि आत्मा की अपेक्षा जगत के अन्य किसी भी पदार्थ की महिमा या रुचि बढ़ जाये तो भगवान आत्मा प्रसन्न नहीं हो सकता। जैसे—किसी राजा को प्रार्थना-पत्र लिखना हो तो "श्रीमान्, माननीय, महाराजाधिराज" आदि विशेषण लगाना पड़ते हैं और टिकिट भी लगाना पड़ती है; उसीप्रकार यहाँ भगवान आत्मा चैतन्यराजा है, उससे प्रार्थना करने के लिये—अर्थात् उसका अनुभव करने के लिये—उसके अनंत धर्मोंरूपी विशेषणों से पहिचानकर उसकी रुचि करे, तभी वह उत्तर देता है; यदि एक भी धर्म कम माने तो भगवान आत्मा उत्तर नहीं देता अर्थात् उसका अनुभव नहीं होता।

आत्मा अपने अनंत धर्मों का स्वामी है, किन्तु परवस्तु के किसी धर्म का स्वामी आत्मा नहीं है; और न आत्मा के धर्म का कोई अन्य स्वामी है। आत्मा की सम्पत्ति कितनी?—उसके अपने अनंत धर्म हैं उतनी। अपने अनंतधर्मों में आत्मा व्याप्त हो रहा है; पर में वह नहीं है और न पर उसमें है। इस प्रकार आत्मा के भिन्न धर्मों द्वारा आत्मा को पहिचानकर श्रद्धा करे तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो; तत्पश्चात् ही आत्मा में एकाग्रतारूप सम्यक्चारित्र होता है। इसलिये आत्मा को पहिचानने के लिये यहाँ उसके धर्मों का वर्णन चल रहा है।

बारहवें धर्म में ऐसा कहा है कि नामनय से आत्मा शब्दब्रह्म से वाच्य होने योग्य है। परमब्रह्म का पूर्ण स्वरूप कहने वाली दिव्य वाणी है, वह शब्दब्रह्म है। उस वाणी में सबकुछ आता

है। आत्मा में ऐसा धर्म है कि सम्पूर्ण आत्मा शब्दब्रह्म द्वारा कहा जा सकता है। उसे पूर्ण कहनेवाली तीर्थंकर देवाधिदेव की ॐध्वनि है, वह शब्दब्रह्म है। नामनय से देखने पर आत्मा दिव्यध्वनि को स्पर्श करनेवाला है अर्थात् दिव्यध्वनि से उसका स्वरूप वाच्य होता है—ऐसा उसका धर्म है।

पश्चात्, स्थापनानय से ऐसा कहा है कि आत्मा सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है; अर्थात् जब-जब जिन-जिन पुद्गलों में आत्मा की स्थापना की जाये, उस समय उन-उन पुद्गलों से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा उसका धर्म है।

नामनय से ज्ञात होता है—वह धर्म पृथक् है, और स्थापनानय से ज्ञात होता है—वह धर्म पृथक् है; और उन दोनों धर्मों को जाननेवाले दो नय—नामनय और स्थापनानय भी भिन्न-भिन्न हैं।

—इसप्रकार अभी तक तेरह नयों से आत्मा का वर्णन किया; अब चौदहवें द्रव्यनय से आत्मा कैसा है, वह कहते हैं। वह कथन आगे आयेगा।

ध्यान रखना.....!

आत्मद्रव्य एकरूप ज्ञायकरूप से वर्तमान में पूर्ण है; उस ध्रुवस्वभाव की दृष्टि, वह सम्यक्-दृष्टि है। ध्यान रखना कि यह अलौकिक वस्तु है! अनंतकाल से स्वभाव की बात समझ में नहीं आयी है; इसलिये वस्तु की परम गंभीर महिमा लाकर, लक्ष रखकर समझना चाहिए। वस्तु की श्रद्धा के बिना सम्यग्ज्ञान-चारित्र नहीं हो सकता। 'यह कठिन है, इसलिये समझ में नहीं आता'—इस बात को हृदय से निकाल देना। अनादि से अनभ्यास है; इसलिये आत्मस्वरूप को समझना कठिन लगता है; किन्तु यदि उसकी परम महिमा लाकर समझना चाहे तो स्व-विषय है; इसलिये समझ में आयेगा ही। *[समयसार-प्रवचन से]*

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[५]

सुखशक्ति

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं; उनमें से आचार्यदेव कुछ शक्तियों का वर्णन करते हैं। अभी तक चार शक्तियों का वर्णन हो चुका है। अब पाँचवीं 'सुखशक्ति' का वर्णन करते हैं।

अनाकुलता जिसका लक्षण है—ऐसी सुखशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। कुछ भी करने की वृत्ति का उत्थान, वह आकुलता है और आकुलता, वह दुःख है। अशुभ अथवा शुभ किसी भी वृत्तिरहित शांत निराकुलदशा ही सुख का स्वरूप है। आत्मा की अनंत शक्तियों में ऐसी सुखशक्ति का भी समावेश है।

प्रश्न—यदि आत्मा में त्रिकाल आनंद भरा है तो वह क्यों अनुभव में नहीं आता?

उत्तर—यदि स्वभावशक्ति का विश्वास करके उसके सन्मुख हो तो आनंद का अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। अपने स्वभाव में आनंद भरा हुआ है, वहाँ न ढूँढ़कर बाह्य में आनंद की शोध करता है, इसलिये अपना स्वभावसुख जीव के अनुभव में नहीं आता। जहाँ सुख भरा है, वहाँ ढूँढ़े तो मिले न? जड़ में तो कहीं ऐसी सुखशक्ति नहीं है कि वह आत्मा को सुख पहुँचाए। जड़ के लक्ष से जो कृत्रिम शुभ-अशुभ आकुलतारूप भाव होते हैं, उनमें भी सुख नहीं है; सुखशक्ति तो आत्मा में है। आत्मा त्रिकाल सुख का सागर है, उसे सुख के लिये किसी बाह्य पदार्थ की—पैसादि की—आवश्यकता नहीं हो सकती। जो ऐसी सुखशक्तिवाले आत्मा को समझे, उसे पर में से सुखबुद्धि दूर हो जाती है और उसका ज्ञान, स्वभावोन्मुख हो जाता है; उस ज्ञान परिणमन में सुखशक्ति भी साथ ही उछलती है। प्रत्येक शक्ति पृथक्-पृथक् नहीं है; जहाँ एक शक्ति है, वहीं अनंत शक्ति का पिण्ड है, इसलिये एक शक्ति को देखने से अनंत शक्तिस्वरूप पूर्ण चैतन्यपिण्ड लक्ष में आता है। जहाँ ज्ञान परिणमित हो, वहीं आनंदादि अनंत शक्तियाँ साथ ही परिणमित होती

है—ऐसा अनेकान्त स्वरूप है। कोई कहे कि हमें ज्ञान तो हुआ है परन्तु सुख कहीं दिखाई नहीं देता; तो उसने ज्ञान और सुख को सर्वथा भिन्न माना है; इसलिये उसने अनेकान्तस्वरूपी आत्मा को नहीं जाना। आत्मा अनंत धर्मों का एक पिण्ड है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से सम्यग्ज्ञान परिणमित हुआ, उसी के साथ सुख भी परिणमित होता है। आत्मा का सम्यग्ज्ञान होने से उसी के साथ सिद्ध जैसे आनन्द का अंश अनुभव में आता है। इसप्रकार अनंत शक्तियाँ एकसाथ निर्मलरूप से परिणमित हो रही हैं।—किसके? जिसकी दृष्टि आत्मा पर है उसके। अज्ञानी तो यथार्थ आत्मा को मानता ही नहीं, इसलिये उसके शक्तियों का निर्मल परिणमन नहीं होता।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल सुख से परिपूर्ण है; उसमें दु:ख का एक अंश भी नहीं है। पर का कुछ करने की आकुलता आत्मा में नहीं है। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—ऐसी जिसकी मान्यता है, वह जीव पर का करने के अभिमान से सदैव आकुलित ही रहा करता है। मैं पर का कर्ता नहीं हूँ, मैं तो ज्ञाता है—इसप्रकार ज्ञातारूप से रहने में अनाकुल शांति है, वही सुख है। मेरा सुख पर में है—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसके पास करोड़ों रुपये हों, मेवा-मिठाई खाता हो और सोने के झूले पर झूलता हो, तथापि वह आकुलता से दु:खी ही है। आनन्दधाम ऐसे स्वतत्त्व की महिमा छोड़कर पर की महिमा की, वही दु:ख है। बाह्य में प्रतिकूलता का होना, वह कहीं दु:ख का लक्षण नहीं है। दु:ख अर्थात् आकुलता; आकुलता कहो अथवा मोह कहो। जितना मोह, उतना ही दु:ख है। यह दु:ख, आत्मा की क्षणिक पर्याय में होता है, परन्तु आत्मा के स्वभाव में दु:ख नहीं है। आत्मा के स्वभाव में तो मात्र सुख ही भरा है। जिसे आकुलता चाहिए हो-दु:ख की कामना हो, उसे चैतन्यस्वभाव में से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती; और जिसे निराकुल सुख की आकाँक्षा हो, उसे चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कहीं से वह प्राप्त नहीं हो सकता। जिसे सुखी होना हो, उसे ऐसे आत्मा की समझ का मार्ग ग्रहण करना होगा।

प्रत्येक आत्मा अनंत गुण का भंडार है; उसके प्रत्येक गुण का लक्षण भिन्न है, और पूर्ण आत्मा का लक्षण 'ज्ञान' है। सुख आदि अनंत गुण भी उस ज्ञान के साथ ही विद्यमान है। उनमें 'जानना' वह ज्ञान का लक्षण है और निराकुलता सुखगुण का लक्षण है। सुखगुण, आत्मद्रव्य में है, गुण में है और पर्याय में भी है; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में सुख व्याप्त है, आत्मा का एक ही प्रदेश सुखशक्ति से रहित-खाली नहीं है। जैसा आत्मा का आकार है, वैसा ही उसके सुख का आकार है। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में आनंद है, किन्तु दयादि रागभाव में आनंद नहीं है; मकान, पैसा,

स्त्री, शरीर या राग में भी आनंद नहीं है; आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि अनंत गुणों में अभेदरूप से आनंद भरा है, उनमें से यदि आनंद प्राप्त करना चाहे तो मिल सकता है, किन्तु उनमें से यदि स्वर्गादि की इच्छा करे तो वे नहीं मिल सकते। स्वर्ग की प्राप्ति हो, वह राग का फल है। आत्मा के गुणों में राग का अभाव है और राग में आत्मा के गुणों का अभाव है।

आनंदगुण की प्रधानता से देखने पर सम्पूर्ण आत्मा आनंदमय है। आत्मा के अनंत गुण आनंद से परिपूर्ण है, उनमें कहीं आकुलता नहीं है। पर्याय में एक समय की आकुलता होती है, उसकी यहाँ बात नहीं है; उस पर्याय को गौण करके त्रिकाली स्वभाव की मुख्यता से यहाँ कहते हैं कि आत्मा में आकुलता है ही नहीं; आत्मा तो त्रिकाल सुख का सागर है। जिसे मात्र आकुलता का ही आभास होता है, किन्तु उसी समय नित्य अपार अनाकुल सुखस्वभाव भासित नहीं होता, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। जिसने एक समय की वृत्ति जितना ही अपना स्वरूप माना, उसने आत्मा को नहीं जाना है। आकुलता तो सुखगुण की एक समय की विकृत अवस्था है, उसी समय अनंत अनाकुलता का पिण्ड ऐसा सुखगुण ध्रुव पड़ा है, और ऐसे अनंत गुणों का पिण्ड आत्मा है; उस स्वभाव की अनंत महिमा के बल से साधक कहता है कि मुझमें आकुलता है ही नहीं! जिसे स्वभाव का बल भासित न होकर विकार का बल भासित होता है, उसे स्वभाव की महिमा और विश्वास नहीं है अर्थात् स्वभाव का अनादर है और विकार आदर है; वही संसार का मूल है। यहाँ आत्मा के अनंत धर्म को बतलाते हैं; उसे पहिचानने से क्षणिक विकार की महिमा छूट जाती है और स्वभाव का सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह मुक्ति का मूल है; वह प्रगट होते ही अनंत संसार का मूल नष्ट हो जाता है।

आकुलता त्रिकाली नहीं है, किन्तु आकुलता के अभावरूप आनंदस्वभाव आत्मा में त्रिकाल है; उस आनंद का वेदन पर्याय में एक-एक समय जितना है किन्तु शक्ति त्रिकाल है। तीनकाल का आनंद, ज्ञान में एकसाथ ज्ञात अवश्य होता है, किन्तु त्रिकाल के आनंद का अनुभव एकसाथ नहीं होता, अनुभव तो वर्तमान जितना ही होता है। भविष्य के आनंद का ज्ञान इस समय होता है, किन्तु उसका उपयोग इसी समय नहीं हो सकता। त्रिकाल के आनंद के वेदन को एक समय में जान ले, ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य है, परन्तु त्रिकाल के आनंद को एकत्रित करके वर्तमान में ही उसका वेदन कर ले, ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य नहीं है। सिद्ध भगवान अपने भविष्य के अनंतानंतकाल के आनंद को वर्तमान में जानते हैं, परन्तु भविष्य के आनंद का वेदन तो भविष्य की

पर्याय में होगा, उसका वेदन इस समय नहीं होता। वेदन तो वर्तमान पर्याय के आनंद का ही है; वे प्रतिसमय नये-नये परिपूर्ण आनंद का वेदन कर रहे हैं। ऐसी अनंत शक्ति प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल भरी है, उसका विश्वास करने से वह प्रगट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्य-गुण के आनन्द का एक समय में व्यक्तरूप से वेदन हो जाये तो दूसरे समय का आनंद आये कहाँ से ? त्रिकाल शक्तिरूप आनंद तो अव्यक्त है, और पर्याय में प्रतिसमय आनंद व्यक्त होता है, उसका वेदन होता है। इसप्रकार आनन्दशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है। इसलिये हे भाई! अपना आनन्द स्वयं में ही ढूँढ़! तेरा आनन्द तुझ में ही है, वह बाह्य में ढूँढ़ने से नहीं मिलेगा। तेरा सम्पूर्ण द्रव्य ही आनन्द से परिपूर्ण है; अनंत शक्ति के पिण्ड आत्मा की अभेददृष्टि कर तो उस आनन्द का अनुभव होगा। पराश्रय में रुकने से आकुलता होती है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। सामान्य द्रव्य में आनन्द है, उसके अनंत गुणों में आनंद है और अनंत पर्यायों में आनंद है; इसप्रकार आत्मा आनंदमय है। अहो! ऐसे आत्मा के समक्ष देखे तो दु:ख है ही कहाँ ? आत्मा के आश्रय से धर्मात्मा नि:शंक है कि—शरीर का भले ही चाहे जो हो, या सारा ब्रह्माण्ड ही उलट जाये, तथापि मैं तो अपने ज्ञाताभाव के आश्रय से शान्ति रख सकता हूँ, क्योंकि मेरी शान्ति—मेरा आनंद मेरे ही आश्रय से है। मैं अपने आनंदसागर में डुबकी लगाकर लीन हुआ, वहाँ जगत में कोई मेरी शांति में विघ्नकर्ता नहीं है। अंतर में अपनी आत्मशक्ति का ऐसा नि:शंक विश्वास आये बिना धर्म का अपूर्व पुरुषार्थ किसके बल पर करेगा ?

''कोई दूसरा मेरी निंदा करे तो मेरे पाप धुल जाएँ''—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने प्रथम तो आत्मा को ही पापी माना है और पापों को दूर करने का उपाय पर से माना है; वह महान मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो कहते हैं कि अरे भाई! तेरा आत्मा त्रिकाल अनंत गुणों की मूर्ति है, उसमें पाप है ही नहीं; इसलिये पर का आश्रय छोड़कर अपने आत्मा के ही सन्मुख देख! आत्मा में कहीं आकुलता नहीं है। आत्मा ज्ञान करे अथवा अपने में स्थित हो तो उसमें आकुलता नहीं है; शरीर में रोग हो, उसे जानने में आकुलता नहीं है; किन्तु शरीर, पैसादि में ममत्व रखना, वह आकुलता है; ज्ञान करने में आकुलता नहीं है। यदि ज्ञान करना आकुलता का कारण हो, तो वह आत्मा का स्वरूप हो जाये और आकुलता कभी भी ज्ञान से पृथक् न हो। सर्वज्ञ भगवान समस्त विश्व को जानते हैं, तथापि उनके आकुलता का अंश भी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान में आकुलता नहीं है। आत्मा के अस्तित्वधर्म में भी आकुलता नहीं है। आकुलता का नाश होने पर आत्मा में से कुछ कम

नहीं हो जाता; आकुलता का नाश होने पर भी आत्मा का परिपूर्ण अस्तित्व बना रहता है; इसलिये आत्मा के अस्तित्व में राग या आकुलता नहीं है। इसप्रकार आत्मा के किसी गुण में आकुलता नहीं है। आकुलता के अभाव में अपने अनंत गुण-पर्यायों को आत्मा बनाए रखता है।

जिसे आत्मा की आवश्कता हो, उसे संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती; और जिसे संसार रखना हो, उसे आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार की चारों गतियों को तिलाञ्जलि देकर आये कि—'अब इस संसार का अन्त हो, मुझे संसार नहीं चाहिए'—उसे आत्मा की प्राप्ति होगी। संसार का कोई भी एक राग जिसे रुचिकर लगता होगा—पुण्य की, स्वर्ग की भी जिसे प्रीति होगी, वह जीव आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। यदि तुझे आनन्दमूर्ति आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा है तो शरीर और विकार को 'हराम' समझ कि—मुझे अब वह कुछ नहीं चाहिए; एक चिदानन्द आत्मा के अतिरिक्त शरीर या विकार कुछ भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञान हूँ।—इसप्रकार ज्ञान द्वारा आत्मा को ढूँढ़ने पर उसमें ज्ञान के साथ आनंदादि अनंत शक्तियाँ प्राप्त होंगी; परन्तु विकार, शरीर या पैसा, संतानादि की प्राप्ति उसमें से नहीं हो सकती।

आत्मा की सत्ता में अनंत आनंद है। ऐसे आत्मा के भावसहित चक्रवर्ती को बाह्य में छह खण्ड का राज्य और छियानवे हजार रानियाँ इत्यादि वैभव था; लेकिन 'हराम' है जो उसमें कहीं भी आनन्द मानते हों तो! अस्थिरता का जो राग है, उसे भी आत्मा के सच्चे स्वरूप में नहीं गिनते; आत्मा में ही आनंद माना है। चैतन्यतत्व में परम ज्ञान-आनन्दादि अनंत शक्तियाँ हैं, किन्तु उसमें पुण्य-पापादि विकारीतत्त्व नहीं है; ऐसे चैतन्यतत्त्व की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है। अहो! सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा के अतिरिक्त कहीं भी सुख नहीं देखता, वह अपने आत्मा में ही सुख को देखता है। ज्ञान के साथ सुखादि अनंत गुण आत्मा में साथ ही उछलते हैं—ऐसे अनेकान्त को देखनेवाले धर्मात्मा की दृष्टि अपने आत्मा पर ही है, इसलिये आत्मा की दृष्टि में उसे सुख ही है; वह न तो पर से सुख मानता है और न अपने स्वभाव में दुःख देखता है; स्वभाव तो सुखशक्ति से ही परिपूर्ण है।

आत्मा के स्वभाव में आकुलता तीनकाल में नहीं है; और अनाकुलता तीनकाल में दूर नहीं होती। एक समय में पूर्ण द्रव्य का वेदन नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान हो जाता है। जिसप्रकार लड्डू का एक ग्रास खाने से ही पूरे लड्डू के स्वाद का ज्ञान हो जाता है, परन्तु वह सारा स्वाद वेदन में नहीं आ जाता; उसीप्रकार ज्ञान को अन्तर्मुख करने से त्रिकाली आनंद का ज्ञान हो जाता है, परन्तु द्रव्य-

गुण का त्रिकाली आनंद एकसमय के वेदन में नहीं आ जाता। यदि एक समय की पर्याय में ही त्रिकाली द्रव्य-गुण के आनन्द का व्यक्तरूप से वेदन हो जाये तो आनन्दशक्ति कहाँ रही? और दूसरे समय का आनन्द कहाँ से आयेगा? द्रव्य-गुण का आनन्द तो त्रिकाल अनादि-अनंत है और पर्याय का आनन्द एक समयपर्यंत का है, वह नवीन प्रगट होता है; प्रगट होने के पश्चात् प्रतिसमय नवीन-नवीन होकर सादि-अनंत है। पर्याय के आनन्द का प्रवाह द्रव्य-गुण में से आया है; इसलिये वह आनन्द द्रव्य-गुण में से सदैव आता ही रहेगा; द्रव्य के साथ सदैव वह आनन्द टिका रहेगा। जिसे ऐसे आत्मद्रव्य की श्रद्धा हुई, उसे "मेरा आनन्द कोई लूट ले जायेगा"—ऐसी शंका नहीं रहती; यह सुखशक्ति अथवा तो आनन्दशक्ति, शक्तिमान द्रव्य के आश्रय से स्थित है। प्रत्येक आत्मा ऐसी अनंतशक्ति से परिपूर्ण परमात्मा है, उसकी प्रतीति करना, वह जैन धर्म का सम्यग्दर्शन है और वही मुक्ति का प्रथम सोपान है। जबतक अपनी परमात्मशक्ति का विश्वास स्वयं को ही अंतर से जागृत न हो, तबतक परमात्मा होने के उपाय का प्रारम्भ नहीं होता। अनंतशक्ति के चैतन्यपिण्ड में कोई एक गुण पृथक नहीं है, इसलिये एक गुण को लक्ष में लेते हुए परमार्थत: अनंत गुणों से अभेद आत्मा का ही लक्ष हो जाता है। इन शक्तियों के वर्णन द्वारा अनंत शक्तियों के पिण्ड पूर्ण आत्मा को बतलाने का प्रयोजन है।

आत्मा में सुखशक्ति त्रिकाल है; वह ऐसा प्रगट करती है कि यदि आत्मा की आवश्यकता हो तो दु:ख को नहीं रखा जा सकता। आत्मा को अंगीकार करने के पश्चात् दु:ख चाहोगे तो भी नहीं मिलेगा। जिसप्रकार सम्यग्दर्शन की ऐसी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे अंगीकार करेगा, उसे अवश्य ही मोक्ष में ले जाऊँगा; उसीप्रकार जिसे आत्मा के परम सुख की आवश्यकता हो, उसे इन्द्रियसुख नहीं मिलेगा और अतीन्द्रिय चैतन्यसुख की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहेगी। ऐसी सुखशक्तिवाले आत्मा की जो प्रतीति करे, उसे पर्याय में सुख प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल सुखरूप हैं और उनका स्वीकार करके उनकी ओर उन्मुख होने से पर्याय भी सुखरूप हो गई। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों सुखरूप हैं। साधक का ज्ञान अंतर्मुख होकर परिणमित हुआ, वहाँ उस ज्ञानक्रिया के साथ ऐसी सुखशक्ति भी उछलती है।

[यहाँ पाँचवीं सुखशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

धर्मी जीव की दृष्टि किस पर है ?
महत्वपूर्ण कार्य कौन सा है ?

अनादि-अनन्त आत्मा को जो एकरूप, अखण्ड, अभेद ज्ञायकरूप से जाने, उसी ने उसका वास्तविक स्वरूप जाना कहा जाता है। जिसके ध्यान में आत्मा का अखण्डस्वरूप नहीं है, उसे उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। 'अनादि-अनन्त' कहने से काल पर लक्ष न देकर अनन्त गुण का अखण्ड पिण्ड अपनेरूप से त्रिकाल स्थित रहनेवाला, वर्तमान में पूर्ण शक्तिरूप ध्रुव है, उसे लक्ष में लेना चाहिए। उसमें तीनों काल की अनन्त शक्ति वर्तमान में अभेदरूप से विद्यमान है।—ऐसे अखण्ड द्रव्यस्वभाव की दृष्टि ही सम्यक्दृष्टि है।

परसंयोग की अपेक्षा छोड़कर और वर्तमान अवस्था के भेद को गौण करके, वर्तमान अवस्था के पीछे जो सामान्य त्रिकाली शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और आनन्दादि अनंत गुणों से परिपूर्ण अखण्ड स्वरूप है, उसका लक्ष करने से अखण्ड ज्ञायकरूप से जो ज्ञात हुआ, वही परमार्थस्वरूप आत्मा है। ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ वही मैं हूँ—ऐसा अंतर से मानना, वह सम्यग्दर्शन है। मैं अखण्ड ज्ञायकज्योति एकरूप हूँ; अनन्तकाल स्थित रहनेवाला वर्तमान में परिपूर्ण है;—इसप्रकार प्रगट शुद्ध ज्ञायकभाव को लक्ष में लेकर अंतर में अनुभव से जानना, वह सम्यग्ज्ञान है। इसमें जो गूढ़ था, उसे अत्यन्त स्पष्ट करके कहा है; परन्तु उसे हाथ में लेकर नहीं बतलाया जा सकता; क्योंकि वस्तु तो अंतर अनुभव का विषय है। स्वयं तैयार होकर, ग्रहण करके, गले उतारकर अंतर में पचाये तो अवश्य गुण होगा।

ऐसा वस्तुस्वरूप समझना ही वास्तव में महत्वपूर्ण कार्य है। आत्मा का निरपेक्ष, अभेद, पूर्णस्वभाव वर्तमान में साक्षात् शुद्धरूप से जैसा है वैसा अनादिकाल से लक्ष में नहीं लिया है। पर से भिन्न एकत्व की बात कभी प्रीतिपूर्वक सुनी भी नहीं है, इसलिये समझना कठिन लगता है। परन्तु 'समझने पर सब सरल है।' सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये प्रारम्भ में ही समझने की यह बात है। वर्तमान में प्रतिसमय आत्मा पूर्णस्वरूप होने से उसी को श्रद्धा का विषय (लक्ष्य, ध्येय) बनाकर शुद्ध अखण्डरूप से लक्ष में लेना योग्य है। वह शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है। वर्तमान विकारी अवस्था तथा अपूर्ण निर्मल पर्याय को गौण करके वर्तमान प्रवर्तित एक-एक अवस्था के साथ ही प्रत्येक समय में अनन्त चैतन्यशक्तिरूप जो पूर्ण सामान्य ध्रुवस्वभाव है, वह धर्मी जीव की दृष्टि का विषय है। उस पर दृष्टि करके उसे लक्ष में लेना, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तथा वही धर्मी जीव का कर्तव्य है।

[समयसार-प्रवचन से]

श्रावक और श्रमण किसकी भक्ति करें ?

[परम भागवत श्री नियमसार के परमभक्ति अधिकार की १३४ वीं गाथा पर]

—पूज्य स्वामी जी का प्रवचन—

[वीर संवत् २४७८ माघ शुक्ला ४]

इस भागवत शास्त्र में भक्ति अधिकार पढ़ा जा रहा है। भगवान आत्मा का भजन करने का नाम भक्ति है। अंतर में अखण्ड चिदानंदी भगवान आत्मा का भजन करना अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र करना—वही सच्ची भक्ति है; और वहाँ बाह्य भगवान की भक्ति का शुभराग, वह व्यवहारभक्ति है।

देखो, इस अधिकार में मुनि और श्रावक दोनों की बात ली है। कोई ऐसा समझे कि मुनियों का धर्म दूसरा होगा और श्रावकों का दूसरा—तो ऐसा नहीं है। मुनि हो अथवा श्रावक हो, जितनी शुद्ध रत्नत्रय की आराधना, उतना धर्म है; श्रावक को भी राग से धर्म नहीं होता। जितना स्वभाव का आश्रयभाव, उतनी रत्नत्रय की भक्ति है और वही सच्चा धर्म है। यहाँ आचार्यदेव ऐसी भक्ति का अत्यन्त सरस वर्णन करते हैं:—

सम्यक्त्वज्ञान चरणेषु, यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः।
तस्य तु निर्वृत्ति भक्तिर्भवतीतिजिनैः प्रज्ञप्तम्॥१३४॥

जो श्रावक अथवा श्रमण, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भक्ति करते हैं, उनके निर्वाण की भक्ति है—ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवन्तों ने कहा है।

स्वभाव के आश्रय से रत्नत्रय का भाव ही सच्ची भक्ति है, राग सच्ची भक्ति नहीं है। श्रावक को भी अपने त्रिकाली चैतन्यभगवान के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति होती है; ऐसी रत्नत्रय की भक्ति ही मोक्ष के कारणरूप भक्ति है। पर की भक्ति करने से शुभराग होता है और स्वभाव की भक्ति करने से मुक्ति होती है। स्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें लीन होने का नाम स्वभाव की भक्ति है और वही रत्नत्रय की आराधना है।

भक्ति का अर्थ है भजन करना। धर्मी जीव किसका भजन करता है ? धर्मी श्रावक और श्रमण अपने आश्रय से शुद्ध रत्नत्रय का भजन करते हैं; वे सच्चे भक्त है।

चतुर्गति संसार में परिभ्रमण के कारणभूत जो तीव्र मिथ्यात्वकर्म की प्रकृति है, उससे प्रतिपक्ष निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान अथवा अवबोध आचरणस्वरूप शुद्ध रत्नत्रय -परिणामों का भजन, वह भक्ति है। यहाँ 'शुद्ध रत्नत्रय' बतलाना है; इसलिये अपने परमात्मतत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता की ही बात ली है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि में तो शुभराग है; इसलिये उसकी बात नहीं ली है। जो जीव चैतन्यमूर्ति परमात्मा की भक्ति नहीं करता-उनकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता नहीं करता, वही मिथ्यात्व-प्रकृति में युक्त होकर चार गतियों में परिभ्रमण करता है। यहाँ चारों गतियों में परिभ्रमण का मूलकारण मिथ्यात्व को ही माना है; सम्यक्दर्शन होने के पश्चात् एक-दो भव हों तो उनकी कुछ गिनती नहीं है। स्वभाव को चूककर मिथ्यात्व में युक्त होना, वही चार गतियों में परिभ्रमण का मूल है, और मिथ्यात्वकर्म से विरुद्ध आत्मा का परमानंदस्वभाव है, वह चार गतियों के मूल को उखाड़ देनेवाला है। ऐसे निज परमात्मतत्त्व की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरण, वह शुद्ध रत्नत्रय है। ऐसे शुद्ध रत्नत्रय का भजन-आराधना, वह भक्ति है। यहाँ व्यवहाररत्नत्रय के भजन की बात नहीं ली; क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय में शुभराग है, वह वास्तव में मोक्ष का कारण नहीं है; अंतर में निजपरमात्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय की आराधना-भक्ति ही मोक्ष का कारण है।

भक्ति अर्थात् आराधना; शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय की आराधना। मुनिवर शुद्ध रत्नत्रय की आराधना करते हैं, और श्रावकों को भी रत्नत्रय की अमुक आराधना होती है; उनके भी निश्चय श्रद्धा-ज्ञान और अंशतः वीतरागी चारित्र होता है। स्वभाव के ध्यान द्वारा जो निर्मल पर्याय परिणमित हुई, उसका नाम रत्नत्रय की आराधना और भक्ति है।—ऐसी भक्ति से मुक्ति होती है।

❋ ❋ ❋

सच्चा श्रावक किसे कहा जाता है और वह श्रावक किसकी भक्ति करता है ?—यह बात चल रही है। चैतन्यमूर्ति निज परमात्मतत्त्व देहादि से भिन्न है; एक समय में परिपूर्ण ज्ञान-शांति का पिण्ड है; ऐसे अंतर्तत्त्व की निर्विकल्प श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है और वह श्रावकों का प्रथम लक्षण है; और उस निज परमात्मतत्त्व का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है तथा उसमें लीनता, वह

सम्यग्चारित्र है।—ऐसे शुद्ध रत्नत्रयपरिणामों का भजन, वह भक्ति है। ऐसी भक्ति श्रावक और श्रमणों के होती है। इस रत्नत्रय का भजन अर्थात् वीतरागी परिणति ही सच्ची भक्ति है। अपने से पृथक् बाह्य भगवान की शुभरागरूप भक्ति तो व्यवहार है, परन्तु यदि अंतर में शुद्ध रत्नत्रयरूप निश्चयभक्ति हो तो उस शुभराग को व्यवहारभक्ति कहा जाता है। निज-परमात्मा की निश्चयभक्ति हो तो उस शुभराग को व्यवहारभक्ति कहा जाता है। निज-परमात्मा की निश्चयभक्ति हो, वहाँ पर-परमात्मा की भक्ति को व्यवहार कहा जाता है; किन्तु अपने को भूलकर मात्र पर की भक्ति में ही धर्म माने, उसे तो व्यवहार भी नहीं कहा जा सकता। शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करना अर्थात् उसकी आराधना करना, वह मोक्ष का मार्ग है। चैतन्यस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप परिणति ही आराधना और भक्ति है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं; उसमें छह प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य हैं; सात से नव प्रतिमावाले मध्यम हैं और दस-ग्यारह प्रतिमावाले उत्तम हैं;—किन्तु यह सब श्रावक क्या करते हैं? वे सब श्रावक सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्ध रत्नत्रय की आराधना करते हैं; ग्यारहों प्रतिमा में शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति है। इसके अतिरिक्त राग की आराधना करे अर्थात् राग से धर्म होता है—ऐसा माने तो उसे श्रावकपना नहीं होता। जड़ की क्रिया जड़ से होती है, उसका कर्ता अपने को माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है और पूजा-भक्ति-शुद्ध आहारादि के शुभराग को धर्म मान ले तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। शुद्ध आहार तथा व्रतादि के शुभराग को व्यवहार कहा जाता है—लेकिन कब? जब अंतर में शुद्ध रत्नत्रय की आराधना प्रगट हुई हो तब। स्वभाव के आश्रय से जिसके शुद्ध रत्नत्रय की आराधना प्रगट नहीं हुई है, उसके निश्चयप्रतिमा आदि नहीं हैं; इसलिये उसके व्यवहार भी नहीं होता। अहो! एक ही अबाधित मार्ग है कि-जितना अंतरस्वभाव का अवलम्बन, उतना धर्म। बहिर्मुख वृत्ति से जो भाव हो, वह धर्म नहीं है।

जो ग्यारह प्रतिमावाले श्रावक हैं, वे सब अंतर्मुख स्वभाव के अवलम्बन से शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं; चिदानन्द ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसका अवलम्बन लेने से उनके पर्याय-पर्याय में वीतरागभाव की वृद्धि होती जाती है; उसका नाम प्रतिमा है। द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही रत्नत्रयपर्याय होती है; राग से या निमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते;—ऐसा जिन्हें भान भी नहीं है और पराश्रयभाव से धर्म मानते हैं, वे तो अज्ञानी हैं, उनके प्रतिमा कैसी? त्रिकाली चिदानन्द द्रव्य के आश्रय से निर्मल रत्नत्रयपर्याय प्रगट हुई, उसका नाम भगवान का भजन है।

धर्मात्मा को—जिज्ञासु को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का उल्लास आये बिना नहीं रहता; किन्तु वे समझते हैं कि देव-गुरु-शास्त्रादि पर की भक्ति का भाव, वह शुभराग है, और अपना आत्मा ही परमात्मा है, उसे पहिचान कर रत्नत्रय द्वारा उसकी भक्ति-आराधना-उपासना करना, वह धर्म है। देव-गुरु-शास्त्र भी यही कहते हैं कि तू हमारा लक्ष छोड़कर अपने आत्मा का भजन कर, तेरा आत्मा ही पूर्ण शक्तिमान परमात्मा है; उसे पहिचानकर उसका भजन कर! जो जीव ऐसा करे, वही अपने आत्मा का सच्चा भक्त है और वही व्यवहार से देव-गुरु का सच्चा भक्त है।

परिणति को अंतरोन्मुख करके भगवान आत्मा के आनंद में लीन करना, वह भगवान की भक्ति है। बीच में शुभराग होता है; किन्तु यदि उस शुभराग को आराधना माने तो वह जैन नहीं है। जो जीव, स्वभाव के भान द्वारा रागादि को जीते, वह जैन है। जिसने राग को ही धर्म माना, वह राग को कहाँ से जीत सकेगा? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, राग मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा भान करे तो उसके आश्रय से राग को जीत सकता है। 'राग को जीतना'—यह कथन भी नास्ति से है। वास्तव में राग होता है और जीव उसे जीतता है—ऐसा नहीं है; परन्तु अंतर में ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करके उसमें स्थिर होने से रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती; वहाँ 'राग को जीता'—ऐसा कहा जाता है। जिसे शुद्ध आत्मा का भान नहीं है, उसे उसका भजन नहीं है और उसके प्रतिमा आदि कुछ नहीं होता।

अभी जिसे उपादान-निमित्त की भिन्नता का भी भान नहीं है, और निमित्त के कारण कार्य होता है, कर्म के कारण विकार होता है—ऐसा मानता है, उसे तो दो द्रव्यों की एकता की तीव्र मिथ्याबुद्धि है। पहले स्व-पर की भिन्नता का भान करके, चिदानन्द परमात्मतत्त्व की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनरूपी धर्मक्रिया का कर्ता आत्मा ही है। क्योंकि—

करता परिनामी दरब, करम रूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनी, वस्तु एक त्रय नाम॥ *(नाटक समयसार पृष्ठ ८२)*

—अर्थात् जो द्रव्य परिणमित होता है, वही कर्ता है और जो परिणाम होता है, वही उसका कर्म है तथा पर्याय का परिवर्तन, वह क्रिया है। यह कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनों एक ही वस्तु है। आत्मा की सम्यग्दर्शनरूपी क्रिया का कर्ता आत्मा ही है; आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सम्यग्दर्शनादि का साधन नहीं है। आत्मा की क्रिया कोई पर नहीं करता और पर की क्रिया को आत्मा नहीं करता। आत्मा स्वयं स्वद्रव्य के आश्रय से परिणमित होते हुए सम्यग्दर्शनादि कार्य का कर्ता होता है। पहले ज्ञानी के समागम से ऐसी वस्तु की पहिचान-विचार-प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन के लिये पात्रता

है। तत्पश्चात् श्रावकत्व और प्रतिमा होते हैं।

प्रतिमाधारी श्रावकों को भी भूमिकानुसार शुद्ध आत्मा के रत्नत्रय की उपासना होती है, और वही मोक्षमार्ग है। मोक्ष की भक्ति किन्हें होती है ?—कि जो श्रावक और श्रमण शुद्ध रत्नत्रय का भजन करते हैं, उन्हीं के मोक्ष की भक्ति है; जो शुद्ध रत्नत्रय की आराधना करें, वे ही मोक्ष के आराधक हैं। द्रव्य के आश्रय से वीतरागी आचरण हो, उसका नाम भक्ति है; जिसके ऐसी भक्ति है, वही श्रमण या श्रावक है। जिन जीवों को ऐसा भान नहीं है और मात्र शुभरागरूप व्यवहार को ही निश्चय से मोक्षमार्ग मान लेते हैं, वे तो उपदेश-श्रवण के लिये भी पात्र नहीं हैं।

श्री पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहते हैं कि:—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तसय देशना नास्ति॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥

अज्ञानी को समझाने के हेतु से मुनिराज असत्यार्थ ऐसे व्यवहारनय का उपदेश देते हैं; परन्तु जो मात्र व्यवहार को ही जानता है, उसे उपदेश देना ही योग्य नहीं है। शास्त्र में व्यवहार का कथन आये, वहाँ उसी को पकड़ बैठे, किन्तु उसका आशय क्या है, वह न समझे तो वैसा जीव देशना के योग्य नहीं है। जैसे, कोई सच्चे सिंह को न जानता हो, उसे कोई बिल्ली बतलाकर कहे कि —'देखो, सिंह ऐसा होता है'—तो वहाँ वह बिल्ली को ही सिंह मान बैठता है; उसीप्रकार जो निश्चय को नहीं जानता—ऐसा अज्ञानी तो व्यवहार को ही निश्चयरूप से मान लेता है। मोक्षमार्ग के साथ राग वर्तता हो, उसका ज्ञान कराने के लिये राग को व्यवहार से (-उपचार से) मोक्षमार्ग कहा है; वहाँ उस राग को ही सच्चा मोक्षमार्ग मान ले तो वैसा जीव देशना के लिये अपात्र है अर्थात् वह जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को नहीं समझ सकेगा—अभी सम्यक्त्व, श्रावकत्व और मुनित्व तो दूर रहा! चैतन्यद्रव्य में डूबने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है,—ऐसा निर्णय करके द्रव्य के आश्रय से जितने गुण प्रगट हों, तदनुसार प्रतिमादि होते हैं। श्रावकत्व, प्रतिमा तथा मुनित्व—यह सब अखण्ड द्रव्य के आश्रय से प्रगट होते हैं। समस्त श्रावक शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। रत्नत्रय और रत्नत्रय की भक्ति—यह दो पृथक् वस्तु नहीं हैं; द्रव्य के आश्रय से जितने रत्नत्रय प्रगट हुए, उतनी रत्नत्रय की भक्ति है। चैतन्य के आश्रय से रत्नत्रय के गुणानुसार श्रावक के ग्यारह पद

होते हैं, और विशेष उग्ररूप से चैतन्य का आश्रय करने से मुनिदशा तथा केवलज्ञान प्रगट होता है। धर्म के प्रारम्भ से पूर्णता तक एकमात्र चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय नहीं है।

निमित्त की मुख्यता से कथन होते हैं—कार्य नहीं हो सकते। भूमिकानुसार निमित्त और व्यवहार होते हैं परन्तु ज्ञानी उसी से लाभ नहीं मानते। निमित्त और व्यवहार के आश्रय से जो लाभ मानता है, वह तो अनादि के रूढ़ व्यवहार में मूढ़ है, और निश्चय में अनारूढ़ है। निश्चयरहित अकेला व्यवहार तो अनादिकाल से करता आया है, इसलिये अज्ञानी का व्यवहार तो अनादिरूढ़ है, वह कुछ अभूतपूर्व नहीं है। अज्ञानी और अभव्य भी अनादिकाल से शुभराग तो करता ही आया है; उसे 'प्रथम व्यवहार' कैसे कहा जाये? वह तो वास्तव में व्यवहार ही नहीं है। स्वभाव के आश्रय से निश्चय प्रगट करके राग का निषेध करे, तब उस निश्चयसहित के राग को व्यवहार कहा जाता है। अंतर में स्वभाव का भान करके उसके आश्रय से वीतरागी निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट किया, तब राग को उपचार से—व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। किन्तु 'उपचार' का अर्थ ही 'वास्तव में वह मोक्षमार्ग नहीं है,' परन्तु बिल्ली को सिंह कहने जैसा उपचारमात्र कथन है—ऐसा समझना चाहिए। अज्ञानी निश्चयरहित अकेला व्यवहार मानते हैं, अर्थात् 'पहले व्यवहार और फिर निश्चय'—ऐसा मानते हैं, वह मिथ्या है; व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जायेगा, अथवा व्यवहार के आश्रय से लाभ होगा, यह मान्यता भी मिथ्या है; और जिसके ऐसी मान्यता है, उसके शुभ रत्नत्रय की भक्ति या प्रतिमा नहीं होती। द्रव्यस्वभाव की निश्चय श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उसमें लीन होकर शुद्ध रत्नत्रय की आरधना करनेवाले श्रावक को परमार्थभक्ति है। जितनी चैतन्य में लीनता हो, उतनी भक्ति है; बीच में राग आये, वह वास्तव में भक्ति या धर्म नहीं है। श्रावक के भी शुद्ध रत्नत्रय की जितनी आराधना है, उतनी परमार्थभक्ति है।

इस प्रकार श्रावकों की भक्ति की बात की कि ग्यारह भूमिकावाले श्रावक शुद्ध रत्नत्रय का भजन करते हैं, वही सच्ची भक्ति है।

अब, मुनिवरों की भक्ति कैसी होती है, वह कहते हैं। मुनिवरों को भी अंतरस्वभाव के आश्रय से शुद्ध रत्नत्रय की ही भक्ति होती है। मुनियों की दशा महान अलौकिक है; श्रावकों की अपेक्षा उनके रत्नत्रय की अति उग्र आराधना होती है; प्रतिक्षण विकल्प से छूटकर चैतन्यबिम्ब में लीन हो जाते हैं; केवलज्ञान लिया.. या.. लेंगे—ऐसी उनकी दशा है। अहो! संत-मुनि आत्मा के अतीन्द्रिय आनंदकुंड में निमग्न हैं, एकदम वीतरागता बढ़ गई है और राग बिलकुल कम रह गया है, वहाँ बाह्य में वस्त्रादि

भी स्वयं छूट गये हैं और शरीर की सहज दिगम्बर निर्विकारदशा हो गई है।—ऐसे भवभयभीरु, परम निष्कर्म परिणतिवाले, परम तपोधन भी शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं।

किसी को ऐसा लगता हो कि—श्रावक या मुनि बाह्य क्रियाकाण्ड में तो रुकते होंगे; तो कहते हैं कि नहीं; श्रावक और मुनि तो शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करनेवाले हैं। भक्ति में राग नहीं है परन्तु शुद्ध आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना ही भक्ति है। ऐसी वीतरागी भक्ति ही मुक्ति का कारण है।

मुनि हों या श्रावक हों, परन्तु उन्होंने स्वभाव के आश्रय से जितनी रत्नत्रय की आराधना की, उतनी ही वीतरागी भक्ति है और वही मुक्ति का कारण है। मुनि क्या करते होंगे?—कि चैतन्यपरमात्मा के भीतर उतरकर शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। पंचपरमेष्ठी पद में युक्त होने वाले और भवभय से डरनेवाले ऐसे वीतरागी मुनियों को स्वर्ग का भव करने की भी भावना नहीं है। मैं तो चिदानन्द चैतन्यबिम्ब ज्ञायकमूर्ति हूँ; राग मेरा कार्य नहीं है—ऐसे भानसहित उसमें अत्यन्त लीनता हो गई है—ऐसी भावलिंगी संतों की दशा है; उसमें हठ नहीं है परन्तु स्वभाव के आश्रय से वैसी सहजदशा हो गई है; वे परम नैष्कर्मवृत्ति वाले हैं अर्थात् स्वरूप के आनन्द में इतने अधिक स्थिर हैं कि अशुभ या शुभकर्म से उदासीन हो गये हैं; राग से च्युत होकर परिणति अन्तरोन्मुख हो गई है।—ऐसे परम वीतरागी संत भी शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं; उसे भगवान मोक्ष की भक्ति कहते हैं।

श्री सीमन्धर भगवान इस समय महाविदेह क्षेत्र में समवशरण में विराज रहे हैं, वे तीर्थंकररूप से विचर रहे हैं; उनकी देह ५०० धनुष ऊँची है; उनके समवशरण में श्री गणधर विराज रहे हैं; भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर दो घड़ी में बाहर अंगों की रचना करें, ऐसा अपार उनका सामर्थ्य है। तीर्थंकर भगवान अर्थात् धर्म के राजा, और गणधरदेव अर्थात् धर्म के मंत्री।—ऐसे गणधरदेव भी जब नमस्कार मंत्र बोलकर पंचपरमेष्ठी को भाव से नमस्कार करते हैं तब वीतरागी आनन्द में झूलनेवाले समस्त मुनि उसमें आ जाते हैं। अहो! गणधरदेव जिन्हें नमस्कार करते हैं, उन संतों की दशा कैसी! उस मुनिपद की महिमा कितनी! मुनि भी परमेष्ठी हैं; जो परम चैतन्यपद में स्थिर हुए हैं, वे परमेष्ठी हैं। ऐसे संत-मुनि अत्यंत भावभीरु हैं, और रागरहित नैष्कर्म्य परिणतिवाले हैं, बाह्य के किसी कार्य का भार सिर पर नहीं रखते; अंतर के आनंद के अनुभव में ही उनकी परिणति लीन है।—ऐसे संत शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति-आराधना करते हैं।

अंतर में शुद्ध रत्नत्रय की आराधना हो और बाह्य में निष्परिग्रही वीतरागी मुद्रा हो—ऐसी मुनि की दशा है।

इसप्रकार श्रावक और श्रमण दोनों शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति में स्वभाव का ही आश्रय है, पर का या राग का आश्रय नहीं है। श्रावक को भी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अंशतः वीतरागी चारित्र प्रगट हुआ है, उतनी रत्नत्रय की भक्ति है। मुनि को पंचमहाव्रतादि का जो शुभराग है, वह तो आस्रव है; वह कहीं मुनिपद नहीं है; मुनिपद तो संवर-निर्जरारूप वीतरागदशा है और वह दशा चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होती है। उसी को यहाँ आचार्यदेव ने निर्वाण की भक्ति कहा है और ऐसी भक्ति से ही मुक्ति होती है।

अहो! नियमसार में तो संतों ने अमृत का सागर भर दिया है!

शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करनेवाले उन परम श्रावकों के और परम तपोधनों के, जिनवरों द्वारा कही गई निर्वाणभक्ति अर्थात् अपुनर्भवरूपी नारी की सेवा वर्तती है; अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष की आराधना उनके वर्तती है। ऐसा तत्त्व समझे बिना बाह्य में 'त्याग करो! त्याग करो!'—ऐसा कहे तो उससे कहीं श्रावकत्व या मुनित्व नहीं आ जाता। आत्मा में अन्तर्मुख होकर जो शुद्ध रत्नत्रय की आराधना करे, उसी को श्रावकत्व और मुनित्व होता है; और वही मोक्ष की सच्ची क्रिया है। शरीर की क्रिया तो जड़ की है और राग की क्रिया, वह आस्रव है; आत्मस्वभाव के आश्रय से पर्याय बदलकर वीतरागी पर्याय प्रगट हो जाये, वह धर्मक्रिया है। श्रमण और श्रावक ऐसी क्रिया करते हैं; बीच में राग हो, उसे धर्म की क्रिया नहीं मानते, और बाह्य में देहादि की क्रिया को वे अपना नहीं मानते।

इस समय महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान आदि बीस तीर्थंकर विचरते हैं, और केवली भगवंतों के समूह वहाँ विराजमान हैं; वहाँ तीर्थंकर और केवली भगवन्तों का कभी विरह नहीं है; आत्मा के असंख्यप्रदेशों में उनके अनंत चैतन्यदीप प्रगट हो गये हैं;—ऐसे अनंतानंत जिनेश्वरों ने शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करनेवाले श्रमण और श्रावकों के निर्वाणभक्ति कहीं है। स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतारूप शुद्ध रत्नत्रय की आराधना ही मुक्ति की भक्ति है अर्थात् उसके द्वारा ही मुक्ति होती है—ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं। ऐसे शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करनेवाले श्रमण और श्रावक वास्तव में भक्त हैं... भक्त हैं!

अहो! चिदात्मा के भक्त उन श्रमणों और श्रावकों की जय हो.... उन्हें भक्तिपूर्वक वंदन हो!

श्री समयसार की छट्ठी-सातवीं गाथा में आ जाने वाले—

व्यवहारनय के चार प्रकार और

निश्चय के आश्रय से उनका निषेध

[गतांक से आगे]

साधक के अपूर्ण ज्ञान है और राग भी होता है। उसकी प्रतीति में तो रागरहित पूर्ण ज्ञानस्वभाव आ गया है, परन्तु पर्याय में अभी पूर्णता प्रगट नहीं हुई है। प्रतीति में पूर्ण और पर्याय में अपूर्ण—ऐसी साधकदशा है। यदि प्रतीति में पूर्णता न आयी हो तो किसके आधार से पूर्णता को साधे ? और यदि पर्याय में पूर्णता प्रगट हो गई हो तो फिर साधना क्या रहा ? इसलिये दोनों पक्षों को यथावत् समझना चाहिए। साधक का ज्ञान, राग के समय राग को भी जानता है; राग के समय ज्ञान में भी वैसे राग को जानने का सामर्थ्य है, परन्तु उस समय भी साधक को दृष्टि में से अभेदस्वभाव की मुख्यता तो समयमात्र भी नहीं हटती; राग की मुख्यता करके राग को नहीं जानता परन्तु स्वभाव की मुख्यता रखकर राग को भी जानता है; इसलिये उसका राग प्रतिक्षण दूर होता ही जाता है। अज्ञानी के तो राग को जानते समय 'राग है, सो मैं हूँ'—इस प्रकार राग की मुख्यता हो जाती है; इसलिये उसके राग के अभावरूप परिणमन बिल्कुल नहीं होता।

ज्ञान, राग का नहीं है किन्तु ज्ञान तो आत्मा का है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञान और आत्मा—ऐसी जो भेदकल्पना है, वह भी व्यवहार है। 'ज्ञायक' आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद व्यवहार से ही कहे जाते हैं, निश्चय से शुद्ध ज्ञायकतत्त्व में वैसे भेद नहीं हैं; परमार्थ वस्तु के अनुभव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद का विकल्प नहीं है। मात्र अभेद ज्ञायक वस्तु ही निश्चयनय का विषय है। भेदरूप व्यवहार द्वारा भी ऐसा अभेद निश्चय ही साध्य है। यदि अभेदरूप निश्चय को न साधे—उसे दृष्टि में न ले— तब तो भेद को व्यवहार भी कैसे कहा जाये ? जो अभेद को लक्ष में लेकर साध्य करे, उसको भेद का विकल्प वह व्यवहार है—जो भेद में ही अटक जाये उसे नहीं।

अभेदस्वरूप की साधना करते हुए, प्रथम 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसा भेद का विकल्प बीच में उठे बिना नहीं रहता; परन्तु यह भेद का विकल्प राग है, साधक की दृष्टि में उसका निषेध है। अभेद स्वरूप को लक्ष में लेते हुए भेद का विकल्प टूट जाता है। एकरूप निर्विकल्प ज्ञायकतत्त्व ही सम्यग्दर्शन का साध्य है। बीच में भेद आता अवश्य है किन्तु अभेद वस्तु में एकाग्र होना ही प्रयोजन है। 'ज्ञान, वह आत्मा'—ऐसे भेद से भी अभेद आत्मवस्तु ही साध्य है। इसलिये आचार्यभगवान

कहते हैं कि ज्ञानी को दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी व्यवहार से हैं, परमार्थ से ज्ञानी को दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानी दर्शन-ज्ञान-चारित्र रहित जड़ हैं! श्री कुन्दकुन्द भगवान के कथन का आशय क्या है, वह गुरुगम के बिना अज्ञानियों को समझ में नहीं आ सकता। यहाँ आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी की दृष्टि दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद पर नहीं है, अभेद आत्मा पर ही उनकी दृष्टि है; इसलिये निश्चय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद भी आत्मा के नहीं हैं; क्योंकि दृष्टि के विषय में वे अभूतार्थ हैं। दृष्टि का विषय एक अभेद ज्ञायक आत्मा ही है। उस अभेद आत्मा का अनुभव कराने के लिये यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद का निषेध किया है। भेद के निषेध बिना अभेद में नहीं पहुँचा जा सकता। जबतक भेद पर लक्ष रहे, तबतक विकल्प होता है और अभेद वस्तु का अनुभव नहीं होता। भेद का निषेध करके अभेद स्वभाव में ढलने से प्रमाणज्ञान हुआ, तभी वास्तव में भेद को व्यवहार कहा जाता है। 'भेद का निषेध करना'—वह भी समझाने के लिये कथन है; वास्तव में भेद का निषेध करना नहीं पड़ता किन्तु जहाँ अभेद की ओर ढल गया, वहाँ भेद का लक्ष छूट गया; उसका नाम 'भेद का निषेध किया'—ऐसा कहा जाता है। 'यह भेद है और इसका मैं निषेध करूँ'—ऐसा यदि लक्ष में लेने जाये तो वह भी विकल्प ही है और वहाँ भेद का निषेध नहीं होता किन्तु उसकी उत्पत्ति होती है।

आत्मा का निश्चय और व्यवहार दोनों आत्मा में ही हैं; आत्मा का निश्चय या व्यवहार पर में नहीं है; पर का आत्मा कुछ करता है, इस बात को तो व्यवहार में भी नहीं लिया है। अपने अंश का ज्ञान कराये, उसे व्यवहार कहते हैं। राग, आत्मा की पर्याय में होता है; इसलिये वह आत्मा का अंश है। राग को आत्मा का जानना, वह व्यवहार है; 'व्यवहार' कहते ही ऐसा निश्चित होता है कि—जानना, वह निश्चय है और उसमें राग का निषेध है।

पर को आत्मा का जानना, वह तो व्यवहार भी नहीं है; क्योंकि आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों पर से तो बिल्कुल भिन्न ही हैं; पर के लक्ष से तो आत्मा का अनुभव नहीं होता।

(१-२) अपनी क्षणिक अवस्था में विकार है, परन्तु वह असद्भूत है; उसके लक्ष से भूतार्थस्वभाव लक्ष में नहीं आता; विकार सन्मुख देखने से विकार नहीं टलता।

(३) विकार को जाननेवाली ज्ञानपर्याय है, वह ज्ञानपर्याय, राग से पृथक् है—इसप्रकार ज्ञानपर्याय के लक्ष से भी विकल्प टूटकर शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता।

(४) ज्ञानपर्याय, वह त्रिकाली ज्ञानगुण का परिणमन है और ज्ञान है, सो मैं आत्मा हूँ—ऐसे गुणगुणी भेद के विकल्प में रहने से भी शुद्ध ज्ञायक का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता।

—इसप्रकार उपरोक्त चारों प्रकार के व्यवहार के लक्ष से शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता; परन्तु अभेद ज्ञायकस्वभाव में ढलते ही उस व्यवहार का निषेध होकर अपूर्व निर्विकल्प अनुभव प्रगट होता है।—यही धर्म की रीति है। इसके बिना साधकदशा नहीं होती। निश्चय का आश्रय करके व्यवहार का निषेध करने से साधकदशा प्रगट होकर मुक्ति होती है। धर्मात्मा की रुचि अभेद आत्मा पर है, इसलिये उन्हें ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं हैं—ऐसा कहकर भेद का निषेध किया जाता है। यह सम्यग्दृष्टि होने की अर्थात् धर्म की सबसे पहली बात है।

छठवीं गाथा में प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों का निषेध करके अखण्ड 'ज्ञायकभाव' बतलाया; वही 'ज्ञायकभाव' सातवीं गाथा में गुण-गुणी भेदरूप अन्तिम व्यवहार का निषेध करके बतलाया है। एक ही ज्ञायकभाव के आश्रय से समस्त व्यवहार के विकल्प छूट जाते हैं।

चारित्र पर्याय, आत्मा से पृथक् नहीं है—ऐसा बतलाने के लिये प्रवचनसार में कहते हैं कि 'चारित्र, वह आत्मा है।' वहाँ ज्ञान की प्रधानता से कथन है। यहाँ कोई कहे कि 'चारित्र, वह आत्मा है'—तो कहते हैं कि नहीं, ऐसा भेद नहीं है; भूतार्थ आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद नहीं हैं, आत्मा तो अभेद ज्ञायक है; आत्मा को 'ज्ञायक' कहने से अकेला ज्ञान नहीं समझना चाहिए परन्तु अविनाशी अनंत गुणों का पूर्ण पिण्ड समझना। —यही दृष्टि का विषय है। अभेद वस्तु को लक्ष में लेकर एकाग्र हो, तभी सम्यग्दर्शन और वीतरागता प्रगट होती है; दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि पर्याय पर या भेद पर लक्ष करने से राग की उत्पत्ति होती है। इसलिये समयसार में द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश है; भेद को गौण करके (अभूतार्थ मानकर) अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया है। ऐसी दृष्टि प्रगट किये बिना जीव का कभी कल्याण नहीं होता।

जिसे अपना हित करना हो, कल्याण करना हो, मुक्ति करना हो, उसे सर्व प्रथम इतना तो निश्चित करना चाहिए कि मेरा आत्मा पर से तो बिल्कुल भिन्न है, पर के साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा कल्याण पर में से नहीं आता।—इतना निश्चित करे तो स्वोन्मुख होने का अवकाश रहे।

अब अपने में भी (१-२) राग का तो लक्ष नहीं, (३) राग को जाननेवाली ज्ञानपर्याय का भी लक्ष नहीं और (४) एक ज्ञानादि गुण के भेद पर भी लक्ष नहीं;—इन सबका लक्ष (आश्रय, दृष्टि रुचि) छोड़कर 'ज्ञायक' स्वभाव की ओर उन्मुख होना (उसकी रुचि-प्रतीति-आश्रय करके एकाग्र होना), वही एक सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान का उपाय है। जितने अंश में अखण्ड ज्ञायक आत्मा की ओर ढलकर एकाग्र हो, उतने अंश में विकल्प टूटकर निर्विकल्पता होती है।●●

वर्तमान ही त्रिकाल

प्रत्येक वस्तु वर्तमानरूप से वर्त रही है; वर्तमान प्रवर्तित द्रव्य में ही त्रिकाल स्थित रहनेरूप सामर्थ्य है। वर्तमान एक समय में त्रिकाल स्थित रहनेरूप एकरूप सामर्थ्य वह द्रव्य है। आत्मा को 'अखण्ड ज्ञायक' कहकर त्रिकाली एकरूप द्रव्यस्वभाव बतलाना है। समय-समय प्रवर्तित होकर त्रिकाल होता है—इसप्रकार 'त्रिकाल से' (काल की लम्बाई से) ज्ञायक को लक्ष में लेना चाहिए—ऐसा नहीं समझना; परन्तु चैतन्यमूर्ति आत्मा त्रिकाल स्थित रहनेवाली अनन्त शक्ति-सामर्थ्यरूप से वर्तमान में ही पूर्ण है—ऐसा समझना है; अर्थात् जो वर्तमान में है, वही त्रिकाल है। वर्तमान में ही मैं अखण्ड परिपूर्ण हूँ—ऐसी जो दृष्टि है, वह द्रव्यदृष्टि है और वही सम्यक्दृष्टि है। वह दृष्टि प्रगट होने में अनन्त पुरुषार्थ है; और वह होने पर दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होता है।

[समयसार-प्रवचन से]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	भजनमाला	
समयसार प्रवचन भाग २	५)	(अजमेर भजन-मण्डली की)	=॥)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	मूल में भूल	।।।)
प्रवचनसार हिंदी		मुक्ति का मार्ग	।।=)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	अनुभवप्रकाश	।।)
आत्मावलोकन	१)	अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१।=)	चिद्विलास	१=)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	दसलक्षणधर्म	।।।)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	जैन बालपोथी	।)
समयसार पद्यानुवाद	।)	सम्यक्दर्शन	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=॥)	स्तोत्रत्रयी	।=)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)	भेदविज्ञानसार	२)
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३॥।)	पंचमेरु पूजन	।।।)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये
जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया